

जैन श्रमण परम्परा का दर्शन

पं. फूलचन्द्र शास्त्री

संस्कृत साहित्य में जिसे श्रमण पद से अभिहित किया गया है^१ मूल में वह 'समण' संज्ञा पद है^२। उसके संस्कृत छाया रूप तीन होते हैं^३—शमन, श्रमण और समण। श्रमणों—जैन साधुओं की चर्या इन तीनों विशेषताओं को लिये हुए होती है। जिन्होंने पञ्चेन्द्रियों को संवृत कर लिया है, कषायों पर विजय प्राप्त कर ली है, जो शत्रु-मित्र, दुःख-सुख, प्रशंसा-निन्दा, मिट्टी-सोना, तथा जीवन-मरण में समभाव सम्पन्न हैं और जो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चरित्र की आराधना में निरन्तर तत्पर हैं, वे श्रमण हैं और उनका धर्म ही श्रमण धर्म है।^४ वर्तमान में जिसे हम जैनधर्म या आत्मधर्म के नाम से सम्बोधित करते हैं, वह यही है। यह अखण्ड भाव से श्रमण-संस्कृति का प्रतिनिधित्व करता है।

लोक में जितने भी धर्म प्रचलित हैं, उनका लिखित या अलिखित दर्शन अवश्य होता है। श्रमण परम्परा का भी अपना दर्शन है, जिसके द्वारा श्रमण धर्म की नींव के रूप में व्यक्तिस्वातन्त्र्य की अक्षुण्णभाव से प्रतिष्ठा की गई है। इसे समझने के लिए इसमें प्रतिपादित तत्त्वप्ररूपणा को हृदयंगम कर लेना आवश्यक प्रतीत होता है। जैसा कि समग्र आगम पर दृष्टिपात करने से विदित होता है, इसमें तत्त्वप्ररूपणा के दो प्रकार परिलक्षित होते हैं—एक लोक की संरचना के रूप में तत्त्वप्ररूपणा का प्रकार और दूसरा मोक्षमार्ग की दृष्टि से तत्त्वप्ररूपणा का प्रकार। ये दोनों ही एक दूसरे के इतने निकट हैं, जिससे इन्हें सर्वथा जुदा नहीं किया जा सकता, केवल प्रयोजन भेद से ही तत्त्वप्ररूपणा को दो भागों में विभक्त किया गया है।

प्रथम प्ररूपणा के अनुसार जाति की अपेक्षा द्रव्य छह हैं। वे अनादि, अनन्त और अकृत्रिम हैं। उन्हीं के समुच्चय का नाम लोक है। इसलिए जैनदर्शन में लोक

१. येषां च विरोधः शाश्वतिकः (२।४।९) इत्यस्यावकाशः श्रमणब्राह्मणम् ।—पातञ्जलभाष्य ।

२. प्रवचनसार गा० २२६ ।

३. पाइअसद्महणओ, देखो समण शब्द, द्वि० सं० पृ० ८६५ ।

४. प्रवचनसार गा० २४०-२४१ ।

भी स्वप्रतिष्ठ और अनादि-अनन्त माना गया है। छह द्रव्यों के नाम हैं—जीव, पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश और काल। इनमें से काल द्रव्य सत्स्वरूप होकर भी शरीर के समान बहुप्रदेशी नहीं है, इसलिए उसे छोड़कर शेष पाँच द्रव्य अस्तिकाय माने गये हैं। पुद्गल शक्ति या योग्यता की अपेक्षा बहुप्रदेशी माना गया है।

संख्या की दृष्टि से जीवद्रव्य अनन्त हैं, पुद्गल द्रव्य उनसे अनन्त गुणे हैं, धर्म, अधर्म और आकाश द्रव्य एक-एक हैं और काल द्रव्य असंख्यात हैं।

ये सब द्रव्य स्वरूप सत्ता की अपेक्षा भिन्न-भिन्न हैं। फिर भी इन सबमें घटित हो ऐसा इनका एक सामान्य लक्षण है, जिस कारण ये सब द्रव्य पद द्वारा अभिहित किये जाते हैं। वह है—उत्पाद-व्यय-ध्रौव्ययुक्तं सत्। सद्द्रव्यलक्षणम्।^{१५} जो सत्स्वरूप हो वह द्रव्य है या सत्स्वरूप होना द्रव्य का लक्षण है। यहाँ सत् और द्रव्य में लक्ष्य लक्षण की अपेक्षा भेद स्वीकार करने पर भी वे सर्वथा दो नहीं हैं, एक हैं—चाहे सत् कहो या द्रव्य दोनों का अर्थ एक है। इसी कारण जैन-दर्शन में अभाव को सर्वथा अभावरूप न स्वीकार कर उसे भावान्तर एवं भाव स्वीकार किया गया है।^{१६}

नियम यह है कि सत् का कभी नाश नहीं होता और असत् का कभी उत्पाद नहीं होता। ऐसा होते हुए भी वह (सत्) सर्वथा कूटस्थ नहीं है—क्रियाशील है।^{१७} यही कारण है कि प्रकृत में सत् को उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य रूप से त्रयात्मक स्वीकार किया गया है। अपने अन्वय स्वभाव के कारण जहाँ वह ध्रौव्य है, वहीं व्यतिरेक (पर्यायरूप) धर्म के कारण वही उत्पाद-व्यय स्वरूप है।^{१८} इन तीनों में कालभेद नहीं है।^{१९} जिसे हम नवीन पर्याय का उत्पाद कहते हैं, यद्यपि वही पूर्व पर्याय का व्यय है, पर इनमें लक्षणभेद होने से ये दो स्वीकार किये गये हैं।^{२०} इस प्रकार प्रत्येक द्रव्य एक ही काल में त्रयात्मक है, यह सिद्ध होता है।

इस त्रयात्मक द्रव्य में उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य, उसके ये तीनों ही अंश सत् हैं। इनमें कथञ्चित् अभेद है, क्योंकि तीनों की सत्ता एक है। जो तीनों में से किसी एक की सत्ता है, वही अन्य दो की है। यह द्रव्य का सामान्य आत्मभूत लक्षण है। इससे प्रत्येक द्रव्य परिणामी नित्य है, यह सिद्ध होता है, क्योंकि समय-समय जो उत्पाद-व्यय होता है, वह उसका परिणामीपना है और ऐसा होते हुए भी वह अपने

१. तत्त्वार्थसूत्र ५, २९-३०।

६. भवत्यभावो हि भावधर्मः।—युक्त्यनु०।

७. प्रवचनसार गा० १०४।

८. सर्वार्थसिद्धि ५-३०।

९. प्रवचनसार गा० १०२।

१०. आसमीमांसा कारिका ५८।

परिसंवाद-४

ध्रुवरूप मूलस्वभाव को नहीं छोड़ता, उसके द्वारा वह सदा ही उत्पाद-व्ययरूप परिणाम को व्यापता रहता है। यह उसकी नित्यता है। आगम में प्रत्येक द्रव्य को जो अनेकान्त स्वरूप कहा गया है, उसका भी यही कारण है।

द्रव्य में उत्पाद-व्यय ये कार्य हैं। वे होते कैसे हैं, यह प्रश्न है—स्वयं या पर से ? किसी एक पक्ष के स्वीकार करने पर एकान्त का दोष आता है, उभयतः स्वीकार करने पर, जीव का मोक्ष स्वरूप से कथंचित् स्वाश्रित है और कथंचित् पराश्रित है, ऐसा मानना पड़ता है, जो युक्तियुक्त नहीं है। अतः वस्तुस्थिति क्या है, यह विचारणीय है।

समाधान यह है कि किसी भी द्रव्य को अन्य कोई बनाता नहीं, वह स्वयं होता है। अतः उत्पाद-व्यय रूप कार्य को प्रत्येक द्रव्य स्वयं करता है। वही स्वयं कर्ता है और वही स्वयं कर्म है। करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण भी वही स्वयं है। अविनाभाव सम्बन्धवश उसकी सिद्धि मात्र पर से होती है, इसीलिए उसे कार्य (उपचार) का साधक कहा जाता है। पर ने किया यह व्यवहार है, परमार्थ नहीं, क्योंकि पर ने किया इसे परमार्थ मानने पर दो द्रव्यों में एकत्व की आपत्ति आती है, जो युक्तियुक्त नहीं है। अतः प्रकृत में अनेकान्त इस प्रकार घटित होता है—

उत्पाद-व्यय कथंचित् स्वयं होते हैं, क्योंकि वे द्रव्य के स्वरूप हैं। कथंचित् पर से होने का व्यवहार है, क्योंकि अविनाभाव सम्बन्धवश पर उनकी सिद्धि में निमित्त है।^{११}

जैन धर्म में प्रत्येक द्रव्य को स्वरूप से जो स्वाश्रित (स्वाधीन) माना गया है उसका कारण भी यही है। जीव ने परमें एकत्व बुद्धि करके अपने अपराधवश अपना भवभ्रमण रूप संसार स्वयं बनाया है।^{१२} कर्मरूप पुद्गल द्रव्य का परिणाम उसके अज्ञानादिरूप संसार का कर्ता नहीं होता। पर परको करे ऐसा वस्तु स्वभाव नहीं। वह स्वयं अज्ञानादिरूप परिणाम को जन्म देता है, इसलिए स्वयं उसका कर्ता होता है। फिर भी इसके जो ज्ञानावरणादिरूप पुद्गल कर्म का बन्ध होता है उस सम्बन्ध में नियम यह है कि प्रति समय जैसे ही यह जीव स्वरूप से भिन्न पर में एकत्वबुद्धि या इष्टानिष्ट बुद्धि करता है वैसे ही ज्ञानावरणादिरूप परिणामन की योग्यता वाले पुद्गल स्कन्ध स्वयं उससे एकक्षेत्रावगाहरूप बन्ध को प्राप्त होकर फल काल के प्राप्त होने पर तदनुरूप फल देने में निमित्त होते हैं। जीव-

११. आसमीमांसा कारिका ७५।

१२. समयसार गा० १३।

कर्म का यह बनाव अनादि काल से निमित्त-नैमित्तिक सम्बन्धवश स्वयं बना चला आ रहा है। इसके अनादि में निमित्त नहीं।

पहले जिन छह द्रव्यों का हम निर्देश कर आये हैं, उनमें से चार द्रव्य तो सदा ही अपने स्वभाव के अनुकूल ही कार्य को जन्म देते हैं, शेष जो जीव और पुद्गल दो द्रव्य हैं उनमें से पुद्गल का स्वभाव तो ऐसा है कि वह कदाचित् स्वभाव में रहते हुए भी बन्ध अनुकूल अवस्था होने पर दूसरे पुद्गल के साथ बन्ध को प्राप्त हो जाता है और जब तक वह इस अवस्था में रहता है तब तक वह अपनी इकाईपने से विमुख होकर स्कन्ध संज्ञा से व्यवहृत होता रहता है।

इसके अतिरिक्त जो जीव है उसका स्वभाव ऐसा नहीं है कि वह स्वयं को कर्म से आबद्ध कर दुर्गति का पात्र बने। अनादि से वह स्वयं को भूला हुआ है। उसकी इस भूल का ही परिणाम है कि वह दुर्गति का पात्र बना चला आ रहा है। उसे स्वयं में यही अनुभव करना है और उसके मूल कारण के रूप में अपने अज्ञान-भाव और राग-द्वेष को जानकर उनसे मुक्त होने का उपाय करना है। यही वह मुख्य प्रयोजन है जिसे ध्यान में रख कर जिनागम में तत्त्वप्ररूपणा का दूसरा प्रकार परिलक्षित होता है।

आत्मानुभूति, आत्मज्ञान और आत्मचर्या इन तीनों रूप परिणत आत्मा मोक्षमार्ग है। उनमें सम्यग्दर्शन मूल है। (दंसणमूलो धम्मो)। उसी प्रयोजन से जीवादि नौ पदार्थ या सात तत्त्व कहे गये हैं।^{१३} इनमें आत्मा मुख्य है। विश्लेषण द्वारा उसके मूल स्वरूप पर प्रकाश डालना इस कथन का मुख्य प्रयोजन है। उसी से हम जानते हैं कि मैं चिन्मात्र ज्योतिस्वरूप अखण्ड एक आत्मा हूँ। अन्य जितनी उपाधि है वह सब मैं नहीं हूँ। वह मुझसे सर्वथा भिन्न है। इतना ही नहीं, वह यह भी जानता है कि यद्यपि नर-नारकादि जीव विशेष अजीव, पुण्य, पाप, आस्रव, संवर, निर्जरा, बन्ध और मोक्षस्वरूप इन नौ पदार्थों में मैं ही व्यापता हूँ।^{१४} जीवन के रंगमञ्च पर कभी मैं नारकी बन कर अवतरित होता हूँ तो कभी मनुष्य बन कर। कभी पुण्यात्मा की भूमिका निभाता हूँ तो कभी पापी की आदि। इतना सब होते हुए भी मैं चिन्मात्र ज्योतिरूप अपने एकत्व को कभी भी नहीं छोड़ता हूँ। यही वह संकल्प है जो इस जीव को आत्मस्वतन्त्रता के प्रतीक स्वरूप मोक्षमार्ग में अग्रसर कर आत्मा

१३. तत्त्वार्थसूत्र १-४।

१४. समयसार कलश ७।

का साक्षात्कार कराने में साधक होता है। ज्ञान-वैराग्यसम्पन्न मोक्षमार्ग के पथिक की यह प्रथम भूमिका है।

यह जीवों के आयतन जानकर पाँच उदुम्बर फलों तथा मद्य, मांस और मधु का पूर्ण त्यागी होता है। इन्हें आठ मूल गुण कहते हैं^{१५} जो इसके नियम से होते हैं। साथ ही वीतराग देव, निर्ग्रन्थ गुरु और वीतराग वाणी स्वरूप जिनागम इसके आराध्य होते हैं।^{१६} यह आजीविका के ऐसे ही साधनों को अपनाता है जिसमें संकल्प पूर्वक हिंसा की सम्भावना न हो।^{१७}

दूसरी भूमिका का श्रमणोपासक व्रती होता है। व्रत बारह हैं—पाँच अणु-व्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत।^{१८} यह इनका निर्दोष विधि से पालन करता है। कदाचित् दोष का उद्भव होने पर गुरु की साक्षीपूर्वक लगे दोषों का परिमार्जन करता है और उनमें उत्तरोत्तर वृद्धि करते हुए उस भूमिका तक वृद्धि करता है जहाँ जाकर लंगोटी मात्र परिग्रह शेष रह जाता है।

तीसरी भूमिका श्रमण की है। यह महाव्रती होता है। यह वन में जाकर गुरु की साक्षीपूर्वक जिन व्रतों को अंगीकार करता है उन्हें गुण कहते हैं। वे २८ होते हैं—५ महाव्रत, ५ समिति, ५ इन्द्रियजय, ६ आवश्यक और ७ शेष गुण।^{१९} शेष गुण जैसे—खड़े होकर दिन में एक बार भोजन-पानी लेना, दोनों हाथों को पात्र बनाकर लेना, केशलुंच करना, नग्न रहना आदि।

इसका जितना भी कार्य हो वह स्वावलम्बनपूर्वक ही किया जाय, मात्र इसलिए ही यह हाथों को पात्र बनाकर आहार ग्रहण करता है, हाथों से ही केशलुंच करता है। रात्रि में एक करवट से अल्प निद्रा लेता है।

यह सब इसलिए नहीं किया जाता है कि शरीर को कष्ट दिया जाय। शरीर तो जड़ है, कुछ भी करो, उसे तो कष्ट होता ही नहीं। यदि कष्ट हो भी तो करने-वाले को ही हो सकता है। किन्तु श्रमण का राग-द्वेष के परवश न होकर शरीर से भिन्न आत्मा की संभाल करना मुख्य प्रयोजन होता है, इसलिए वे सब क्रियाएँ उसे, जिन्हें हम कष्टकर मानते हैं, कष्टकर भासित न होकर अवश्य करणीय भासित होती हैं।

१५. सागारधर्ममृत २-२।

१६. रत्नकरण्डश्रवावकाचार ४।

१७. सागारधर्ममृत १-१४।

१८. वही अ. ५।

१९. प्रवचनसार गा० २०८-२०९।

यह जैन धर्म-दर्शन का सामान्य अवलोकन है। इसे दृष्टिपथ में लेने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि इसका मुख्य प्रयोजन वेद, ईश्वरकर्तृत्व और यज्ञीय हिंसा का विरोध करना पूर्व में कभी नहीं रहा है। इसके मूल साहित्य षट्खण्डागम, कषाय-प्राभृत, आ० कुन्दकुन्द द्वारा रचित साहित्य, मूलाचार, रत्नकरण्डावकाचार, भगवती आराधना आदि पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है। इसलिए जो मनीषी इसे सुधारवादी धर्म कह कर इसे अर्वाचीन सिद्ध करना चाहते हैं, जान पड़ता है वस्तुतः उन्होंने स्वयं अपने धर्मग्रन्थों का ही ठीक तरह से अवलोकन किये बिना अपना यह मत बनाया है। उन्हें नहीं भूलना चाहिए कि जो वर्तमान में भारतीय संस्कृति का स्वरूप दृष्टिगोचर होता है उसे न केवल ब्राह्मण या वैदिक संस्कृति कहा जा सकता है, और न तो श्रमण संस्कृति कहना उपयुक्त होगा। यह एक ऐसा तथ्य है जिसे स्वीकार कर लेने पर श्रमण संस्कृति से अनुप्राणित होकर भारतीय संस्कृति में जो निखार आया है, उसे आसानी से समझा जा सकता है।

उपर्युक्त विवेचन से जिन तथ्यों पर विशेष प्रकाश पड़ता है, वे ये हैं—

१. इसमें सदा से प्रत्येक द्रव्य का जो स्वरूप स्वीकार किया गया है उसके अनुसार जड़-चेतन प्रत्येक द्रव्य में अर्थक्रियाकारीपना सिद्ध होने से ही व्यतिरेकरूप में ही परकर्तृत्व का निषेध होता है।

२. व्यक्ति के जीवन में वीतरागता अर्जित करना मुख्य है। अहिंसा आदि उसके बाह्य साधन हैं। मात्र इसलिए जैन धर्म में अहिंसा आदि को मुख्यता दी गई है। यज्ञादिविहित हिंसा का निषेध करना इसका मुख्य प्रयोजन नहीं है। जीवन में अहिंसा के स्वीकार करने पर उसका निषेध स्वयं हो जाता है।

ये कतिपय तथ्य हैं जिनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि सुधारवाद की दृष्टि से जैन धर्म की संरचना नहीं हुई है। किन्तु भारतीय जन-जीवन पर जैन संस्कृति की अमिट छाप अवश्य है। यह माना जा सकता है। और यह स्वाभाविक भी है। जो पड़ोसी होते हैं उनमें आदान-प्रदान न हो यह नहीं हो सकता।

श्री गणेश वर्णी दिगम्बर जैन संस्थान,
सन्मति जैन निकेतन, नरिया वाराणसी, उत्तरप्रदेश।